नयी ग्रामीण सामाजिकता : शक्ति-केंद्रों की पहचान

नरेश गोस्वामी

शहराती कल्पना में गाँव अभी तक मानसिक पलायन का बिम्ब बना हुआ है। इस कल्पना में गाँव अकसर एक आत्मनिर्भर सामाजिक इकाई होता है, और लोगबाग उसे शहर की आपाधापी व तेज़ रफ़्तार के एक ऐसे अपरिवर्तनीय विलोम के रूप में देखते हैं जहाँ जीवन हमेशा मंथर गति से बहता है। हालाँकि समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के अध्येता मैकिम मैरियोट ने अपनी किताब *विलेज इंडिया* में यह बात 1955 में ही स्पष्ट कर दी थी कि गाँव को लघु गणराज्य के रूप में कल्पित करना अर्थात् उसे शहर और क़सबे से विच्छिन्न और स्वतंत्र इकाई मानना एक भ्रांति है, परंतु समाजशास्त्रीय अध्ययनों के अन्य निष्कर्षों की तरह यह तथ्य भी दैनंदिन भावबोध का अंग नहीं बन पाया।

भारत में ग्राम्य-अध्ययन का सिलसिला 1950 के आसपास शुरू हुआ था। लेकिन, एम.एन. श्रीनिवास, श्यामाचरण दुबे, ब्रजराज चौहान तथा आंद्रे बेते जैसे लब्धप्रतिष्ठ समाजशास्त्रियों के नेतृत्व में विकसित हुई यह धारा आठवें दशक तक आते-आते क्षीण हो गयी। जैसे-जैसे राज्य का फ़ोकस जन-कल्याण और सार्वजनिक क्षेत्र के बजाय निजी उद्यमों-उद्योगों और वैश्विक पूँजी की ओर मुड़ता गया, वैसे-वैसे भारतीय समाजशास्त्र का चिंतन-प्रतिष्ठान भी गाँव को छोड़ कर शहर की ओर बढ़ गया। एक समय तो ऐसा भी आया कि खेतिहर आय की अनिश्चितता, देश की समग्र अर्थव्यवस्था में ग़ैर-खेतिहर उत्पादों की बढ़ती हिस्सेदारी और गाँवों से शहरों की ओर पलायन के निरंतर बढ़ते ग्राफ़ को देखते हुए दीपंकर गुप्ता जैसे समाजशास्त्री यह तक पूछने लगे कि गाँव का अस्तित्व क़ायम भी रहेगा या नहीं!

नयी पीढ़ी के राजनीतिक समाजशास्त्री सतेंद्र कुमार की यह रचना *बदलता गाँव, बदलता देहात : नयी सामाजिकता का उदय* ग्राम-अध्ययन की इस यशस्वी परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक गाँव खानपुर का यह एथ्नॉग्राफ़िक आख्यान गाँव की जड़ और विज्ञापित छवि के रेशे उधेड़ते हुए हमारे सामने एक नया समाजशास्त्रीय यथार्थ प्रस्तुत करता है जिसमें गाँव 'न गाँव रह गया है, और न शहर बन सका है'। इस अर्थ में यह किताब गाँव का दो स्तरों पर संधान करती है। एक, उसका स्थानीय यथार्थ और दूसरा उसे गढ़ता, बदलता और विरूपित करता बृहत्तर यथार्थ। यह गाँव समकालीन राजनीति और नव-उदारतावादी अर्थव्यवस्था के बीच खड़ा है। इसका एक सिरा भारतीय समाज की नीची जातियों के राजनीतिक सबलीकरण से, तो दूसरा नव-उदारतावाद की वैश्विक अर्थव्यवस्था से बँधा है।

छह अध्यायों में बँटी इस छोटी लेकिन चुस्त किताब से गुज़रते हुए हम एक ऐसे गाँव में दाख़िल होते हैं जिसमें परिवार के बढ़ते आकार, ज़मीन के घटते रक़बे, रासायनिक खादों, कीटनाशक दवाइयों तथा नये बीजों के बेतहाशा इस्तेमाल के बावजूद खेती की उपज घटती जा रही है। ऐसे में, खेती उनकी जीविका का मुख्य स्रोत नहीं रह गयी है। लिहाज़ा, छोटे और सीमांत किसान ग़ैर-खेतिहर व्यवसायों में पनाह ढूँढ़ रहे हैं। इसका एक नतीजा यह हुआ कि बहुत से किसान अपनी छोटी या

मझौली जोत को ठेके या बँटाई पर उठा कर कोई दूसरा काम करने लगे हैं। सूत्र रूप में कहें तो देहात में एक बहुधंधी ग़ैर-खेतिहर अर्थव्यवस्था पैर पसार चुकी है, लेकिन संकट यह है कि वह मुख्यत: निर्वाह-अर्थव्यवस्था के रूप में काम करती है। यह नव-उदारतावादी अर्थव्यवस्था से प्रतिकृत होता गाँव है जहाँ स्थानीय विधायक और ठेकेदार पंचायत के चुनाव में पैसा लगा कर सड़क, स्कूल और तालाब आदि बनाने के ठेके लेते हैं। वैसे गाँव में अब दबंग जातियों का वर्चस्व एकक्षत्र नहीं रह गया है। उन्हें अब अपनी ताक़त दलित, पिछड़े और अति-पिछड़े समूहों के साथ बाँटनी पड़ती है। चुनाव के समय इन जातियों को अपने खाने के बर्तन और चारपाई जाटवों से साझा करने में कोई आपत्ति नहीं होती, और इस तरह चुनाव-अभियान की अवधि में गाँव का सामाजिक पदानुक्रम समानतापूर्ण हो जाता है।

इस गाँव में लम्बे समय तक डकैत के रूप में कुख्यात रहा राजशरण प्रधान बन जाता है, लेकिन कभी-कभी देखते-देखते दलित नेता भोपाल सिंह भी इस पद तक पहुँच जाता है। गाँव की जनता उम्मीदवार की नैतिकता के बजाय उसके 'काम करवा' सकने की क्षमता को ज़्यादा महत्ता देती है, परंतु इसी के साथ वह इस ख़याल से बेख़बर नहीं रहती कि अगली 'बारी' किसको मिलनी चाहिए! इस किताब से गुज़रते हुए पता चलता है कि अन्य पिछड़े वर्ग की राजनीतिक अवधारणा अपनी सामाजिक कल्पना में कितनी संदिग्ध और बहरूपिया है। मसलन, गूजर जाति की तरह सैनी, गड़रिया और धीवर जैसी जातियाँ भी पिछड़ी मानी जाती हैं, लेकिन उनकी आर्थिक ताक़त और सामाजिक हैसियत के बीच बहुत चौड़ा फाट है। अधिकांशत: भूमिहीन या लगभग न के बराबर ज़मीन रखने वाले गड़रिया और धीवर जैसे जाति-समूहों की हैसियत जाटवों से कमतर है, जबकि जाटवों की गणना दलित वर्ग में की जाती है।

इस किताब से गुज़रते हुए पता चलता है कि अन्य पिछड़े वर्ग की राजनीतिक अवधारणा अपनी सामाजिक कल्पना में कितनी संदिग्ध और बहरूपिया है। मसलन, गूजर जाति की तरह सैनी, गड़रिया और धीवर जैसी जातियाँ भी पिछड़ी मानी जाती हैं, लेकिन उनकी आर्थिक ताक़त और सामाजिक हैसियत के बीच बहुत चौड़ा फाट है। अधिकांशत: भूमिहीन या लगभग न के बराबर ज़मीन रखने वाले गड़रिया और धीवर जैसे जाति-समूहों की हैसियत जाटवों से कमतर है, जबकि जाटवों की गणना दलित वर्ग में की जाती है।

लेखक ने यहाँ मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के बाद होने वाले पंचायती चुनाव में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के उस प्रचार-तंत्र की गहन पड़ताल की है जो फ़क़ीर समुदाय के सदस्य रज़्ज़ाक द्वारा प्रधानी का पर्चा दाख़िल करते ही गाँव में 'मुसलमानी राज' आ जाने का शिगूफ़ा छोड़ देता है, और जिसके चलते गूजर समुदाय अपनी किसान-अस्मिता भूल कर हिंदू बन जाता है तथा परम्परागत तौर पर किसानों के साथ काम करने वाली दस्तकार-सेवक जातियों को मुसलमान घोषित कर देता है।

ग़ौरतलब है कि ग्रामीण क्षेत्रों में हिंदुत्ववादी संगठनों का यह प्रचार-तंत्र पिछले दो दशकों के दौरान बेहद सक्रिय रहा है, परंतु अकादमिक जगत में हिंदुत्व को एक लम्बे समय तक मुख्यत: शहरी परिघटना की तरह देखा जाता रहा। यह धारणा इतनी रूढ़ हो गयी थी कि जब कोई अल्पचर्चित विद्वान देहात में हिंदुत्व के बढ़ते नेटवर्क की बात करता था तो उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया जाता था। इस अर्थ में लेखक की यह किताब भारत में समाज-वैज्ञानिक लेखन की उस व्युत्पन्न-सैद्धांतिकता को

प्रश्नांकित करती है जो ज़मीनी अध्ययन के बजाय वैचारिक प्रस्थापनाओं को ज़्यादा महत्त्व देती रही है। लेखक का यह विवरण इस बेहद ज़रूरी लेकिन अकसर चर्चा से बाहर रह जाने वाले तथ्य की ओर संकेत करता है कि गाँव-देहात में हिंदुत्व राजनीतिक लामबंदी के एक साधन के रूप में उभरा है। वह दबंग जातियों द्वारा अपना वर्चस्व बरक़रार रखने का एक नया पैंतरा बन गया है। इसलिए, यह अकारण नहीं है कि 'जाट, गुर्जर, और राजपूत जैसी जातियाँ रातोंरात राष्ट्रवादी हिंदुत्व का झण्डा उठा कर तथा गो-रक्षा, हिंदू-रक्षा तथा स्त्री-रक्षा जैसे संगठनों का कार्यभार सँभाल कर स्थानीय स्तर पर दलितों और मुसलमानों के सबलीकरण को कमज़ोर करने में जुट गयी हैं'।

किताब के तीसरे अध्याय— 'युवाओं की हसरतें : नौकरी की मरीचिका' में लेखक ने ग्रामीण युवाओं की बेकारी और बेरोज़गारी की उदाहरणों के ज़रिये गहरी पड़ताल की है। इसमें एमएससी करने के बाद क्रमश: बीज और खाद की दुकान तथा कोचिंग सेंटर खोलकर जीवन-यापन करने वाले दो युवाओं का वृतांत इस निर्मम सच की ओर इशारा करता है कि हमारे राज्य के पास काग़ज़ी खानापूर्तियों और फ़रेबी जुमलों के अलावा युवाओं के लिए कोई ठोस योजना या कार्यक्रम नहीं है। मीडिया-घरानों द्वारा समय-समय पर प्रचारित की जाने वाली 'यंग अचीवर्स' और युवा उद्यमी की छवियों के उलट सच ये है कि ग्रामीण क्षेत्र में अधिकांश युवाओं के सबसे उत्पादक हो सकने वाले साल निराशा और तनाव में गुज़र जाते हैं।

लेखक ने इस पहलू पर अलग से ज़ोर दिया है कि ग्रामीण युवाओं की व्यापक बेरोज़गारी को इस संदर्भ में रख कर देखा जाना चाहिए जिसमें स्थायी रोज़गार के तौर पर खेती की तबाही के बाद किसान और मज़दूर यह मानने लगे हैं कि अब शिक्षा ही रोज़गार का साधन हो सकती है।

लेकिन गाँव में शैक्षिक ढाँचे की स्थिति यह है कि आठवें दशक के बाद यहाँ कोई सरकारी स्कूल नहीं खुला, जबकि पिछले पंद्रह वर्षों में यहाँ तीन प्राइवेट स्कूल खुल चुके हैं। गाँव के सम्पन्न और दबंग परिवार अपने बच्चों को इन्हीं स्कूलों में भेजते हैं। लेखक के मुताबिक़ प्राइवेट स्कूलों का यह जाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश के समूचे देहात में फैल चुका है। तीन से चार हज़ार की पगार पर काम करने वाले अध्यापकों के सहारे चलने वाले इन स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता स्कूल के प्रबंधकों या बच्चों के अभिभावकों के लिए कोई मुद्दा नहीं है। लेकिन इन तथाकथित अंग्रेज़ी मीडियम स्कूलों में बच्चों को क्या सिखाया जाता है— इसका पता तब चलता है जब स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद उन्हें दुबारा अंग्रेज़ी सिखाने वाले कोचिंग सेंटरों की

शरण लेनी पड़ती है।

यह किताब बताती है कि पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में इंटरनेट, मोबाइल फ़ोन तथा मोटरबाइक ने गाँव का बाहरी और भीतरी हुलिया बदल डाला है। मोबाइल फ़ोन की आमद के बाद खेती तथा ग़ैर-खेतिहर कामकाज में एक नयी तरह की गति आयी है। इससे किसानों, मैकेनिकों, स्वरोज़गार में लगे छोटे उद्यमियों को समय की बचत के साथ अपनी कार्यदक्षता बढ़ाने का भी मौक़ा मिला है। मसलन, सब्ज़ी पैदा करने वाला एक किसान राम सिंह सैनी मण्डी में अपने परिचितों से मोबाइल पर बात करके भाव का पता कर लेता है। इसी तरह, बिजली का काम करने वाले मन्नू पाल ने अपना नाम दीवारों पर लिखवा रखा है। ग्राहकों के पास अब उसका नम्बर रहता है। वाट्सएप आने के बाद अब उसके ग्राहक फ़िटिंग के स्पेस और ख़राब मशीन का फ़ोटो खींचकर भेज देते हैं। गाँव में मोबाइल रिपेयर शॉप एक व्यवसाय के रूप में उभर चुका है।

लेखक के अनुसार राजनीति में तो मोबाइल की भूमिका इतनी बढ़ गयी है कि कई बार तो इसके बिना चुनाव का प्रबंधन ही अकल्पनीय लगने लगता है। कार्यकर्ताओं की मीटिंग से लेकर मतदाताओं को संदेश भेजने, प्रतिद्वंद्वियों की ख़बर रखने, नाराज़ मतदाता से सम्पर्क साधने और अंततः गाँव के पड़ोसी शहरों— मेरठ, दिल्ली, ग़ाज़ियाबाद, नोएडा आदि जगहों पर रहने वाले मतदाताओं से सम्पर्क करने जैसे काम मोबाइल के चलते आसान हो गये हैं। लेकिन, सोशल मीडिया के भयावह पहलू को उजागर करते हुए लेखक ने यह भी दर्ज किया है कि वर्चस्वशाली ताक़तें इसे कितनी आसानी से साम्प्रदायिकता फैलाने का औज़ार बना सकती हैं। 2013 में मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले के कवाल गाँव की घटना का उल्लेख करते हुए लेखक बताता है कि रोज़मर्रा की एक आपराधिक घटना को किस तरह राष्ट्रीय मुद्दा बना दिया गया जिसमें सैंकड़ों लोगों की जान गयी, हज़ारों लोग अपने गाँव-घर से विस्थापित हो गये और करोड़ों की सम्पत्ति तबाह कर दी गयी।

मोटरबाइक और मोबाइल के बाद यह गाँव पारिवारिक और सामाजिक जीवन बाहरी दुनिया से ज़्यादा जुड़ गया है। इससे जहाँ नाते-रिश्तेदारी के संबंधों को नयी ऊर्जा मिली है, वहीं मुहल्ले और गाँव की आपसदारी, प्रत्यक्ष संवाद पर बुरा असर पड़ा है। नयी पीढ़ी का ज़्यादा समय दूसरे शहरों में रहने वाले अपने भाई-बहनों, संबंधियों अथवा फ़ेसबुक तथा व्हाट्सएप से जुड़े कामकाजी दोस्तों से बात करने में बीतता है। मसलन, गाँव का एक व्यक्ति शमशु जब काम के लिए दुबई जाता है तो अपनी पत्नी और बच्चों को वहाँ के जीवन, बुर्ज ख़लीफ़ा और अन्य इमारतों की तस्वीरें भेजता है। धीरे-धीरे इसका परिणाम यह होता है कि उसके घर वाले अपने पड़ोसियों के बारे में कम और दुबई के विषय में ज़्यादा जानने लगते हैं। लेखक के अनुसार गाँव में रहने वाले लोगों का जीवन अब एक काल्पनिक दुनिया से ज़्यादा जुड़ गया है। गाँव में रहने के बावजूद उनका गाँव की दुनिया से कम वास्ता रह गया है।

नयी सामाजिकता का मतलब पिछली सामाजिकता से विच्छिन्नता के अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। दरअसल, यह नये आर्थिक-राजनीतिक यथार्थ से प्रतिकृत होती सामाजिकता है जिसमें धीरे-धीरे दबंग जातियों का एकक्षत्र वर्चस्व टूटा है; दलित और पिछड़े समुदाय के लोग प्रधान बनने लगे हैं, लेकिन सबलीकरण की इस प्रक्रिया के समानांतर गाँव वैश्विक बाज़ार का हिस्सा भी बनता चला गया है। गाँव का जीवन, वहाँ की खेती-बाड़ी, राजनीति और धार्मिक कर्मकाण्ड अब गाँव के बजाय बाज़ार की ताक़तों और राज्य के हस्तक्षेप से तय होने लगे हैं।

यह एक दिलचस्प बात है कि इस बदलते हुए गाँव में जहाँ परिवार और जातियों के देवी-देवताओं में कोई ख़ास कमी नहीं आयी, वहीं नये धार्मिक कर्मकाण्ड, त्योहार, तीर्थ और धर्मगुरु जन-जीवन का अंग बन गये हैं। लेखक का मानना है कि यह नयी धार्मिकता जहाँ बहुजन धार्मिकता से मिलकर एक देशज रूप ले लेती हैं, वहीं दूसरी ओर वह धार्मिक कट्टरवाद तथा दक्षिणपंथी राजनीति का भी हिस्सा बन जाती है. इससे अगर एक नयी क़िस्म की सामूहिकता का गठन हो रहा है तो साथ हिंदुत्व और मध्यम वर्ग की धार्मिक चेतना भी जन-जीवन में पैठ करने लगी है। गाँव का जीवन एक बड़ी राष्ट्रीय चेतना का अंग बनता जा रहा है। यह नयी धार्मिकता घर परिवार तक सीमित होने के बजाय सड़कों तथा सार्वजनिक स्थानों पर उतर आयी है। पहले जागरण, चौकी और गणपति उत्सव जैसे आयोजन शहरों तक सीमित थे, लेकिन अब उनकी पैठ ग्रामीण संस्कृति में भी होने लगी है। पिछले दो दशकों के दौरान गाँव-देहात में गुरुओं के डेरों और सत्संग के प्रचलन के साथ काँवड़ की यात्रा सामूहिक आस्था की एक व्यापक परिघटना के रूप में उभरी है।

किताब के आख़िरी अध्याय में लेखक ने पिछले पाँच अध्यायों की सामग्री को सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में रख कर नयी सामाजिकता का सूत्रीकरण किया है। ग़ौरतलब है कि 'नयी सामाजिकता का उदय' इस किताब का उप-शीर्षक भी है। नयी सामाजिकता एक बनती-उभरती अवधारणा है। हालाँकि लेखक ने पिछले अध्यायों का समाकलन करते हुए उन तमाम प्रवृत्तियों का यथोचित विश्लेषण किया है जिन्हें नयी सामाजिकता का संरचनात्मकक आधार माना जा सकता है, परंतु किताब के पॉपुलर मुहावरे को देखते हुए हमारा मानना है कि लेखक को इस अवधारणा का आशय अलग से स्पष्ट करना चाहिए था।

बहरहाल, जैसा कि इस अध्याय से ध्वनित होता है, नयी सामाजिकता का मतलब पिछली सामाजिकता से विच्छिन्नता के अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। दरअसल, यह नये आर्थिक-राजनीतिक यथार्थ से प्रतिकृत होती सामाजिकता है जिसमें धीरे-धीरे दबंग जातियों का एकक्षत्र वर्चस्व टूटा है; दलित और पिछड़े समुदाय के लोग प्रधान बनने लगे हैं, लेकिन सबलीकरण की इस प्रक्रिया के समानांतर गाँव वैश्विक बाज़ार का हिस्सा भी बनता चला गया है। गाँव का जीवन, वहाँ की खेती-बाड़ी, राजनीति और धार्मिक कर्मकाण्ड अब गाँव के बजाय बाज़ार की ताक़तों और राज्य के हस्तक्षेप से तय होने लगे हैं। अब वहाँ के 75 प्रतिशत लोगों का जीवन ग़ैर-खेतिहर व्यवसायों पर निर्भर करता है। गाँव की मज़दूर और दस्तकार जातियों के लोग अब सुबह काम पर निकलते हैं और देर शाम या रात के समय घर लौटते हैं। उनके पास सुबह शाम चौपाल पर बैठकर बात करने का समय नहीं रह गया है। ऐसे में, गाँव अब धीरे-धीरे एक आवासीय स्थल / स्थान बनता जा रहा है।

पिछले दो-तीन दशकों में किसान और मज़दूर के बजाय किसान और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, खाद-बीज भण्डार के मालिकों तथा दलालों का पारस्परिक संबंध ज़्यादा मजबूत हुआ है। चुनावी राजनीति तथा पंचायती राज व्यवस्था से गाँव के सत्ता संबंधों में संरचनात्मक बदलाव आया है। इनसे कमज़ोर और दलित जातियों का सशक्तीकरण हुआ है, परंतु इससे लोगों की लोकतांत्रिक चेतना में कोई गुणात्मक इज़ाफ़ा नहीं हुआ है। आंतरिक लोकतंत्र के अभाव में विभिन्न जातियों और वर्गों में वंशवाद की प्रवृत्ति प्रबल हुई है जिससे लोकतंत्र से मिलने वाले लाभ जाति-समुदाय के कुछ परिवारों तक सीमित होकर रह गये हैं। लेखक का मानना है कि चूँकि गाँव की बाहरी संरचना— उत्पादन, वितरण और सत्ता-संबंध बदल गये हैं इसलिए गाँव का नया रंग-रूप एक नये नाम और परिभाषा की दरकार रखता है।

कुल मिलाकर सतेंद्र कुमार की यह किताब बताती है कि अब गाँव को हम एक बनी-बनाई अवधारणा के रूप में नहीं देख सकते। एक राजनीतिक समाजशास्त्री के तौर पर लेखक के संधान का दायरा अपने चयनित गाँव की नियति तक सीमित नहीं है। दरअसल, यह एक गाँव के सघन अध्ययन के ज़रिये गाँव की बदलती अवधारणा को समझने का उद्यम है। इस मायने में यह किताब हमें ग्राम्य-अध्ययन के पुराने निष्कर्षों और जड़ सूत्रों से आगे ले जाती है।